शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अगस्त : १९६५☆ वर्ष २१वाँ, श्रावण, वीर नि०सं० २४९१ ☆ अंक : ४

सुख का मार्ग

★

आत्मा स्वयं निजस्वरूप से ही सुखस्वरूप है... इसलिये निजस्वरूप में रहना ही सुख है। निजस्वरूप से बाहर आकर किंचित् परभाव के ग्रहण की वृत्ति दुःख ही है। अज्ञानी पर के ग्रहण में सुख मानते हैं, ज्ञानी कहते हैं कि भाई, पर के ग्रहण की वृत्ति से तेरे सुख का नाश होता है। श्रीमद् राजचन्द्र यह बात समझाते हुए कहते हैं कि:—

'सर्व जगत के जीव कुछ न कुछ प्राप्त करना चाहते हैं। महान चक्रवर्ती राजा भी बढ़ते हुए वैभव-परिग्रह के संकल्प में प्रयत्नवान हैं और प्राप्ति में सुख मानता है। परन्तु अहा, ज्ञानियों ने तो उससे विपरीत ही सुख का मार्ग निर्णीत किया है कि-किंचित्मात्र ग्रहण करना ही सुख का नाश है।' (८३२)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२४४]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विषय-सूची

सं०	विषय	पृष्ठ
१.	अतीन्द्रिय आत्मा का ग्रहण कैसे होता है ?	३
२.	भगवान श्री ऋषभदेव	
३.	निश्चय और व्यवहारनयों की मर्यादा	
४.	क्या व्यवहार रत्नत्रय सच्चा मोक्षमार्ग है ?	
५.	श्रावण मास की रिमझिम फुहारें	
६.	सम्मान समारोह	
७.	समाचार संग्रह	

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) तीसरी आवृत्ति

तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांतपूर्वक नयार्थ भी दिये हैं, और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्वप्रेमियों को यह ग्रंथ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र संख्या ९००, मूल्य लागत से बहुत कम मात्र ५) रखा गया है। पोस्टेज आदि अलग।

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अगस्त : १९६५☆ वर्ष २१वाँ, श्रावण, वीर नि०सं० २४९१ ☆ अंक : ४

अतीन्द्रिय आत्मा का ग्रहण कैसे होता है ?

श्री प्रवचनसार की १७२वीं गाथा में २० बोलों द्वारा अलिंगग्राह्य आत्मा का अद्‌भुत विवेचन किया है; उस पर पूज्य स्वामीजी ने चौथे काल के अलौकिक वैभव समान जो प्रवचन किये हैं, उनमें से दोहन करके यहाँ देते हुए हर्ष होता है। यद्यपि इस संक्षिप्त दोहन में विशेष सार तो नहीं आ सकता, तथापि उसका कुछ अंश भी जिज्ञासुओं को आनंदित करेगा।

प्रवचनसार में ज्ञेयतत्त्वों का वर्णन करते हुए आचार्यदेव ने ऐसा बतलाया है कि—चैतन्यमूर्ति आत्मा, पुद्‌गलादि परद्रव्यों से बिल्कुल भिन्न है और उसके उन पुद्‌गलमय शरीरादि का कर्तृत्व होने में सर्वथा विरोध है। इस प्रकार शरीरादि से अत्यंत भिन्नता कही; वहाँ जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उठता है कि प्रभो! तब फिर जीव का अपना असाधारण लक्षण क्या है कि—जिस साधन द्वारा अपने आत्मा को सर्व परद्रव्यों से भिन्न अनुभव में लिया जा सके ?

यह सच्चे जिज्ञासु जीव का प्रश्न है; उसके उत्तर में आचार्यदेव ने इस १७२वीं गाथा में अलौकिक रीति से आत्मा का स्वरूप समझाया है। आचार्यदेव कहते हैं कि—हे शिष्य! आत्मा को तू चेतनागुणमय अलिंगग्रहण जान। उस अलिंगग्रहण के २० अर्थ करके अमृतचंद्राचार्यदेव ने अद्‌भुत रहस्य खोले हैं। उसके पहले बोल में कहते हैं कि—आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है; इन्द्रियाँ तो परद्रव्य हैं, उनके द्वारा जानने का कार्य आत्मा नहीं करता। आत्मा स्वयं उपयोगस्वरूप

है; अतीन्द्रियज्ञान से देखने का उसका स्वभाव है। ज्ञाता आत्मा क्या पर के स्वभाव से जानेगा ?—नहीं; अकेले इन्द्रियज्ञान को अर्थात् परोन्मुख ज्ञान को आचार्यदेव आत्मा नहीं कहते।

इन्द्रियों से तथा शरीर से अत्यंत भिन्नता वास्तव में कब जानी कही जाती है ?—कि उपयोग को इन्द्रियों से विमुख करके अतीन्द्रिय स्वभाव में ले जाये तब। परन्तु 'मैं इन्द्रियों से जाननेवाला हूँ'—ऐसा जो मानता है, उसने वास्तव में आत्मा को इन्द्रियों से पृथक् जाना ही नहीं है। शरीरादि से अत्यंत भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा की प्राप्ति जब तक न हो, तब तक जीव को सुख-शांति की प्राप्ति नहीं होती। आत्म-प्राप्ति के बिना भले ही बड़ा धनवान हो, निर्धन हो, राजा हो या त्यागी हो, वे सब जीव अकेले दु:खी ही हैं।

आत्मा कैसा है ?-ज्ञायक है, ज्ञाता है; और इन्द्रियाँ तो जड़ हैं; उन जड़ इन्द्रियों द्वारा ज्ञायक तत्त्व की प्राप्ति कैसे होगी ?—नहीं हो सकती। ज्ञायक स्वयं ही ज्ञाता है। वह ज्ञाता कहीं इन्द्रियों द्वारा नहीं जानता। उसके मति-श्रुतज्ञान भी अतीन्द्रियस्वभाव के आश्रय से ही कार्य करते हैं। चैतन्य की जाति चैतन्य के ही अवलम्बन से प्रगट होती है, परंतु जड़ के अवलंबन से चैतन्य जाति प्रगट नहीं होती।

कुन्दकुन्दाचार्य आदेश देते हैं कि—'जाण अलिंगग्गहणं' अर्थात् हे शिष्य! ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपी आत्मा को तू जान!—आचार्यदेव ने आत्मा को जानने का आदेश दिया, वह ऐसा सूचित करता है कि उस आदेश को धारण करनेवाले भी हैं। चैतन्यस्वभाव की उन्मुखता कैसे करें, उसकी प्राप्ति करके जन्म-मरण का भवचक्र कैसे टालें, उसकी रीति आचार्यदेव बतलाते हैं।

चैतन्य से च्युत होकर मात्र परावलम्बन द्वारा जो ज्ञान जाने, वह सचमुच आत्मा नहीं है, उसने आत्मा के साथ एकता नहीं की है। इन्द्रियों के साथ का संबंध तोड़कर, अंतर्मुख होकर आत्मा के साथ एकता करके जो जाने, ऐसा अतीन्द्रियज्ञान ही वास्तव में आत्मा है।

अहा, मेरा आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है—ऐसा जो वास्तव में जाने, उसके इन्द्रियज्ञान के बाह्य ज्ञातृत्व का अथवा शास्त्र की धारणा का अभिमान उड़ जाता है। जो इन्द्रियज्ञान या शास्त्र के ज्ञातृत्व में ही महत्ता मानकर अटक जाये, वह अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपी आत्मा को कहाँ से जानेगा ? उसने तो इन्द्रियज्ञान को ही आत्मा मान लिया है। चैतन्य की 'अगाध गति' है, अर्थात् पुण्य-पाप से या मन-इन्द्रियों से पार ऐसा अगाध अतीन्द्रियस्वरूप है। शुभाशुभ की गति तो चैतन्य से बाहर है और उसका फल चार गतियाँ हैं। अन्तर के चैतन्य की गति उससे न्यारी है। चैतन्य से बाहर

निकलकर जो कोई भाव हो, उससे कदाचित् पुण्य बंध हो, तथापि उससे जन्म-मृत्यु का चक्र मिलता है, वह दूर नहीं होता।

देखो भाई, जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसके लिये—वह कहाँ से आता है और किसप्रकार आता है उसकी—यह बात है। जिसमें पूर्ण स्वभाव सम्पदा भरी है, उसमें दृष्टि डालो! बाह्य वेग को लौटाये बिना अंतर का प्रवाह प्रगट नहीं होता। अरे जीव! चिकनी काई समान इस संसार में तू अशरणरूप से इधर-उधर फिसल रहा है... हापटा मार रहा है—ध्रुव शरणभूत तो आत्मा है। भाई! चैतन्यरस से भरपूर तेरा आत्मा ही तुझे शरणभूत है, उसमें दृष्टि डाल तो अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव सहित सम्यग्दर्शनादि हों।

आचार्यदेव आत्मा के असाधारण स्वरूप की पहिचान कराते हैं कि जिसे जानने से सम्यग्दर्शनादि हों और जन्म-मरण का अंत हो। 'अलिंगग्रहण के बीस बोलों द्वारा अद्‌भुत वर्णन किया है, उसमें से किसी भी बोल को समझकर आत्मा को पकड़े तो उसमें सब बोलों का भी समावेश हो जाता है।

दूसरे बोल में आचार्यदेव कहते हैं कि—अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप आत्मा इन्द्रियों द्वारा जाना जा सके—ऐसा नहीं है। इन्द्रियाँ तो परद्रव्य हैं, उस परद्रव्य के ग्रहण द्वारा आत्मा का ग्रहण कैसे होगा?—नहीं हो सकता। इन्द्रियों से पर होकर चिदानंदस्वभाव में अंतर्मुख हो तो आत्मा ज्ञात हो। स्वसन्मुख होकर आत्मा का स्वसंवेदन करनेवाले मति-श्रुतज्ञान में भी इन्द्रियों का अवलंबन छूट गया है और अतीन्द्रियस्वभाव का अवलंबन हुआ है।

यह कुन्दकुन्द भगवान की वाणी है कि—जिनकी इस पंचम काल में साक्षात् तीर्थंकर सीमंधरनाथ से भेंट हुई थी। अहो, इस पंचम काल में भरतक्षेत्र के जीव की अन्य क्षेत्र के तीर्थंकर से सदेह साक्षात् भेंट हो, वह कैसी पात्रता! और भरतक्षेत्र के जीवों का भी कैसा भाग्य!! चैतन्य की महिमा का मंथन करते-करते यथार्थ निर्णय लेकर स्वसंवेदन में ऐसा आये कि—**'अहो! मेरी वस्तु ही परिपूर्ण है'—तब वह जीव पूर्णता के पथ पर पहुँचा है... उसे अपने में परमात्मा से भेंट हुई है और वह वीर होकर वीर के मार्ग पर चलने लगा है। यह है महावीर का संदेश। उसे संतों ने झेला और अंतर में साधा है।**

भाई, एक बार बाह्य का सब भूल जा, इन्द्रियज्ञान को भी भूल जा, और अपने ज्ञान को अंतर्मुख कर तो तेरा आत्मा स्वज्ञेय हो। इसप्रकार आत्मा को स्वज्ञेय बनाते ही अतीन्द्रिय आनंद

का अनुभव होता है। जड़ इन्द्रियों के अवलंबनवाले उपयोग में ऐसी शक्ति नहीं है कि चैतन्य मूर्ति आत्मा को स्वज्ञेय बना सके। इसलिये राग से या व्यवहार के अवलंबन से आत्मा ज्ञात नहीं होता। इन्द्रियों के अवलंबन से उपयोग को चाहे जितना घुमाये, परंतु वह बाह्य में ही भटकता है, वह उपयोग अंतर में नहीं आता। आत्मा को छोड़कर मात्र बाह्य में भटकते हुए उपयोग को शास्त्र में दुर्बुद्धि कहा है।

इसप्रकार दूसरे बोल में आचार्यदेव ने ऐसा कहा कि—हे जीव! अपने उपयोग को अंतर्मुख करके स्वंसवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा को जान। इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। इन्द्रियों से तो आत्मा अत्यंत विभक्त है, तो वे इन्द्रियाँ आत्मा में प्रविष्ट होने का साधन कैसे हो सकती हैं?—स्वज्ञेय आत्मा तो इन्द्रियातीत है; इन्द्रियाँ उसका साधन भी नहीं हैं। इन्द्रियाँ या इन्द्रियों की ओर उन्मुख राग कहीं आत्मा में प्रविष्ट होने का मार्ग नहीं है; तथापि उन्हें जो मार्ग या साधन मानता है, वह जड़ को और राग को ही आत्मा मानता है। जड़ से तथा राग से भिन्न आत्मा को वह नहीं जानता। जो इन्द्रियों से ज्ञान होना मानता है, उसे इन्द्रियों की प्रीति-मैत्री नहीं छूटती तथा अतिन्द्रिय आत्मा की प्रीति-मैत्री-रुचि नहीं होती।

आत्मा कैसे ज्ञाता होता है?—तो कहते हैं कि—आत्मारूप होकर आत्मा जाना जाता है। इन्द्रियरूप होने से आत्मा ज्ञात नहीं होता। ज्ञान जब इन्द्रियों से तथा राग से पार होकर आत्मारूप होता है, तब आत्मा अनुभव में आता है और तभी सम्यग्दर्शन होता है। अहा, संत मुनि जंगल में बैठे-बैठे खान खोद रहे थे-काहे की?—तो कहते हैं 'चैतन्य-आनंद' की।

इन्द्रियों के या मन के अवलंबन से होनेवाला जो शास्त्रज्ञान या धारणा, उसके द्वारा भी चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, अनुभव नहीं होता। कोई ऐसा माने कि—हमने बहुत से शास्त्र पढ़े और खूब अध्ययन किया, इसलिये हम धर्म में दूसरों से आगे निकल गये हैं... तो आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई, तेरी सब पढ़ाई बाहरी है, तेरे अध्ययन में स्व का ज्ञान नहीं आया है। धर्म का मार्ग तो भीतर चैतन्य में है। अंतर्मुख होकर, चिदानंद तत्त्व को जाननेवाले—अनुभव करनेवाले धर्मात्मा ही धर्म में आगे बढ़े हैं। कोई ऐसी टेक या नियम नहीं है कि—इतना पढ़ा हो, तभी धर्मात्मा कहलायेगा। जिसे चैतन्य का अनुभव नहीं है, उसके चाहे जितनी धारणा हो, तथापि वह संसार के मार्ग में ही है, धर्म के मार्ग पर नहीं है। फिर भी वह ऐसा माने कि मैं धर्म में दूसरों से आगे बढ़ गया हूँ—तो वह ज्ञातृत्व का अभिमान है, वह इन्द्रियज्ञान में अटक जाता है। भाई! चैतन्य का मार्ग तो न्यारा है।

किसी इन्द्रियगम्य चिह्न द्वारा भी आत्मा ज्ञात नहीं होता। इन्द्रियगम्य चिह्न अर्थात् आँख या मुँह की चेष्टा, वाणी आदि द्वारा आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। वे तो सब जड़ चिह्न हैं, वे कोई चैतन्य के चिह्न नहीं हैं। यह ज्ञानी हैं, यह मुनि हैं—इत्यादि प्रकार से सच्ची पहिचान होती अवश्य है, परंतु वह इन्द्रिय चिह्न द्वारा नहीं होती, स्वसंवेदन के लक्षण से ही होती है।

तथा मात्र अनुमान से आत्मा ज्ञात हो जाये, ऐसा नहीं है। आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, सो निश्चय है और दूसरे आत्मा को अनुमान से जानना, सो व्यवहार है। निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता। इसलिये जिसने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अपने आत्मा को नहीं जाना है, वह दूसरे आत्मा को मात्र अनुमान द्वारा वास्तव में नहीं जान सकता। हे भाई, आत्मा के अंतर के अनुभव को जाने बिना मात्र बाहरी अनुमान से तू ज्ञानी का माप निकालेगा तो भ्रम में पड़ जायेगा।

'जो अनुभवी हो, वही अनुभवी को जानता है'—अर्थात् यह आत्मा सर्वज्ञ है, यह आत्मा साधक धर्मी है—ऐसा सच्चा निर्णय तभी होता है, जब उसप्रकार का अंश अपने में प्रगट करे। अंतर्मुख होकर आत्मा को स्वसंवेदन में लेनेवाली ज्ञानदशा भले ही अपूर्ण हो, तथापि उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। ऐसे प्रत्यक्ष के बिना मात्र अनुमान से आत्मा का निर्णय नहीं हो सकता।

पहले स्वसंवेदन के बिना साधारण पहिचान थी, परंतु जहाँ स्वसंवेदन हुआ, वहाँ पहिचान की जाति ही बदल गई... 'अहा, अब भगवान की सच्ची पहिचान हुई, अब ज्ञानी को यथार्थरूप से जाना!' सभी ज्ञानियों को अंतर में आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान एक-से होते हैं, तथापि बाह्य का उदय सबको एक-सा नहीं होता, इसलिये बाह्य उदय की क्रिया द्वारा ज्ञानी को नहीं पहिचाना जाता। किसी जीव को अंतर में निर्विकल्प आनंद की अनुभूति प्रगट हुई हो और बाह्य का विकास कदाचित् विशेष दिखाई न दे, तो वहाँ मूढ़ जीवों को ऐसा लगेगा कि इसको ज्ञानचेतना प्रगट नहीं हुई होगी! परंतु भाई, ज्ञानचेतना तो अंतर में आत्मा के अनुभव का कार्य करती है, उसे तू किस आँख से देखेगा?

इस चौथे बोल में आचार्यदेव ने धर्म को और धर्मी को पहिचानने की रीति जगत को बतलायी है। अहा, इसप्रकार ज्ञानी को वास्तव में जाननेवाला जीव स्वयं ज्ञानी के मार्ग में सम्मिलित हो जाता है। जो भगवान के मार्ग में सम्मिलित हुआ है, वही भगवान को यथार्थरूप से पहिचान सकता है। चैतन्य की गहराई में उतरकर जिन्होंने सिद्धों से भेंट की—ऐसे संतों की यह वाणी है।

राग और इन्द्रियों के संग से किंचित् दूर होकर ही आत्मा की या देव-गुरु-धर्मात्मा की सच्ची पहिचान हो सकती है। स्वसंवेदनसहित अनुमान सच्चा होता है, परंतु स्वसंवेदन के बिना मात्र अनुमान से आत्मा जानने में आ जाये—ऐसा नहीं होता। इसप्रकार हे जीव! तू आत्मा को अलिंगग्रहण जान... अर्थात् स्वसंवेदन से जान। आत्मा का यथार्थ अंश तुझमें प्रगट हुए बिना तू दूसरे आत्मा का अनुमान कहाँ से करेगा?

आचार्यदेव ने इस बोल में यह सिद्धांत समझाया है कि स्व को जाने बिना पर को नहीं जाना जा सकता। पंचपरमेष्ठी या सम्यग्दृष्टि आदि के आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है कि—मात्र अनुमान से या राग से वह ज्ञात हो। अरहंत को या सिद्ध आदि को सच्चा भाव-नमस्कार कब होता है? कि उन्हें पहिचाने तब। उनकी सच्ची पहिचान कब होती है? कि स्वसंवेदन से अपने को जाने तब।

तथा आत्मा मात्र अनुमान से जाननेवाला नहीं है। साधक को अनुमान होता अवश्य है परंतु साथ ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का अंश भी वर्तता है, इसलिये अकेला अनुमान नहीं है। साधक को अंशतः प्रत्यक्ष और अंशतः परोक्ष दोनों साथ हैं, स्वाश्रय से प्रत्यक्षपना बढ़ता जाता है और परोक्षपना टूटता जाता है। साधक जानता है कि—जो परोक्षरूप से कार्य करे, वह मेरा यथार्थ स्वरूप नहीं है; आत्मा का अवलंबन लेकर ज्ञान में जितना प्रत्यक्षपना (अतीन्द्रियपना) हो, वही मेरा स्वरूप है।

अकेला अनुमान ही जिसका स्वभाव नहीं है परंतु प्रत्यक्षज्ञान जिसका स्वभाव है—ऐसे आत्मा को हे शिष्य! तू जान। आत्मा तो प्रत्यक्ष ज्ञाता है। अरे, परोक्षज्ञान भी उसका स्वभाव नहीं है तो फिर राग या इन्द्रियों की तो बात ही कहाँ रही? आतमा किसी पराश्रय द्वारा नहीं किंतु स्वभाव द्वारा ही जाननेवाला है। अहा, ऐसे आत्मा को लक्ष में ले, वहाँ पराश्रयबुद्धि कहाँ रही?

सीमंधरनाथ सर्वज्ञ परमात्मा का साक्षात् संदेश लाकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—मैं तो भगवान के पास से ऐसा संदेश लाया हूँ... जिन्हें सुख-शांति की आवश्यकता हो, वे इस संदेश को झेलकर ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा में उपयोग को लगायें।

यह 'अलिंगग्रहण' की गाथा समयसार में है, नियमसार में है, पंचास्तिकाय में है, अष्टप्राभृत में है और धवला में भी है। यह गाथा अति महत्वपूर्ण है। [क्रमशः]

धर्मसाम्राज्य नायक-आदि तीर्थंकर

भगवान श्री ऋषभदेव

[भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद इन्द्र द्वारा भव्य और अद्‌भुत समवसरण की रचना हुई। भगवान जिनेन्द्रदेव गंधकुटी में रत्नों से बने हुए महामूल सिंहासन पर चार अंगुल ऊँचे अधर विराजमान हुए थे और मुनि, इन्द्र-देव-चक्रवर्ती राजा आदि भव्य लोग बड़े हर्ष से भगवान की दिव्यध्वनि में आये हुये सद्‌बोध का पान कर रहे थे। आगे क्या होता है, उसे जानने के लिये भगवान श्री जिनेसन आचार्यकृत महापुराण के आधार से लिखी हुई यह लेखमाला पढ़िये।]

(गतांक से चालू)

सुर-असुर और मनुष्यों से भरी हुई वह समवसरण की समस्त भूमि जिनेन्द्र भगवान से-शरीर से उत्पन्न हुई तथा चारों ओर फैली हुई प्रभा अर्थात् भामण्डल से बहुत ही सुशोभित हो रही थी, सो ठीक ही है। अमृत के समुद्र के समान निर्मल और जगत को अनेक मंगल करनेवाले दर्पण के समान, भगवान के शरीर की उस प्रभा में (भामण्डल में) सुर-असुर और मनुष्य लोग प्रसन्न होकर अपने-अपने सात भव देखते थे। भगवान के मुखरूपी कमल से बादलों की गर्जना का अनुकरण करनेवाली अतिशययुक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्य जीवों के मन में स्थित मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी। यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकार की थी, तथापि भगवान के माहात्म्य से समस्त मनुष्यों की भाषाओं और अनेक कुभाषाओं को अपने अंतर्मुख कर रही थी अर्थात् सर्व भाषारूप परिणमन कर रही थी और लोगों का अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्वों का बोध करा रही थी। जिसप्रकार एक ही प्रकार का जल का प्रवाह वृक्षों के भेद से अनेक रसवाला हो जाता है। उसीप्रकार सर्वज्ञदेव की वह दिव्यध्वनि भी पात्रों के भेद से अनेक प्रकार की हो जाती थी।

अनंत चतुष्टयरूपी आत्मलक्ष्मी से युक्त और इन्द्रियज्ञान रहित केवलज्ञानमयी जिनेन्द्र भगवान समस्त पदार्थों को युगपत् प्रत्यक्ष जानते थे। जो कवलाहार से रहित हैं, ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्ट करनेवाले हैं, ऐसे प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के उस सौधर्मेन्द्र ने दर्शन किये और घुटने टेककर उन्हें प्रणाम किया। उसीसमय अप्सराओं तथा समस्त देवियों से सहित इन्द्राणी ने भी

भगवान के चरणों को प्रणाम किया था। बाद में सबने बड़े सन्तोष के साथ खड़े होकर भगवान की अष्टद्रव्य से पूजा की थी। वे भगवान यद्यपि वीतराग थे, न किसी से संतुष्ट होते थे और न किसी से द्वेष ही करते थे, तथापि अपने भक्तों को इष्ट फलों से युक्त कर ही देते थे, यह एक आश्चर्य की बात थी। बाद में इन्द्र आदि ने बड़ी भक्ति से भगवान की स्तुति की।

हे भगवन्, इस दैदीप्यमान केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय होने पर यह स्पष्ट प्रकट हो गया है कि आप ही धाता अर्थात् मोक्षमार्ग की सृष्टि करनेवाले हैं और आप ही तीनों लोक के स्वामी हैं। इसके सिवाय आप जन्मजरारूपी रोगों का अंत करनेवाले हैं, गुणों के खजाने हैं और लोक में सबसे श्रेष्ठ हैं, इसलिये हे देव, आपको हम लोग बारबार नमस्कार करते हैं। हे नाथ! इस संसार में आप ही मित्र हैं, आप ही गुरु हैं और आप ही स्वामी हैं। आपका ध्यान करनेवाला जीव अवश्य ही मृत्यु रहित सुख अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त होता है। हे जिनेन्द्र! परम सुख की प्राप्ति के स्थान तथा अविनाशी उत्कृष्ट पद-मोक्ष को जानने की इच्छा करनेवाले उत्तम बुद्धि के योगी संसार का नाश करने के लिये आपके द्वारा कहे हुए परमागम के अक्षरों का-भावों का चिंतवन करते हैं। इसप्रकार स्तुति करने के बाद इन्द्र आदि ने चैत्यवृक्ष, अशोकवृक्ष, सप्तपर्णवृक्ष और आम्रवृक्ष एवं सुशोभित ध्वजाओं की भी वंदना की। साथ जिनके मूल भाग में सिद्ध भगवान की दैदीप्यमान प्रतिमाऐं विराजमान हैं, ऐसे जो सिहार्थ वृक्ष हैं, उनकी भी वंदना की। इसप्रकार जिनके ज्ञान ने विष दूर करनेवाली विद्या के समान मोहरूपी विष से सोते हुए इस समस्त जगत को शीघ्र ही जगा दिया था, वे श्री ऋषभदेव भगवान सदा जयवंत रहें।

अथानंतर राज्यलक्ष्मी से युक्त राजर्षि भरत को एक ही साथ नीचे लिखे हुए तीन समाचार मालूम हुए कि पूज्य पिता को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, अंत:पुर में पुत्र का जन्म हुआ है और आयधुशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। ये तीनों कार्य एक साथ हुए हैं, इनमें से पहले किसका उत्सव करना चाहिए, यह सोचते हुए राजा भरत ने निश्चय किया कि भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न होना धर्म का फल है, पुत्र का होना काम का फल है और चक्र का प्रगट होना धर्म का फल है। सब कार्यों में सबसे पहले धर्म कार्य ही करना चाहिये क्योंकि वह कल्याणों को प्राप्त करानेवाला है। इसलिये सबसे प्रथम जिनेन्द्र भगवान की पूजा ही करनी चाहिये। तदनंतर महाराज भरत अपने छोटे भाई, अंत:पुर की स्त्रियाँ और नगर के मुख्य-मुख्य लोगों के साथ पूजा की बड़ी सामग्री लेकर जाने के लिये तैयार हुये। वे सबसे पहले समवसरण भूमि की प्रदक्षिण देकर मानस्तंभों की पूजा

करते हुए आगे बढ़े और वहाँ क्रमक्रम से धर्मचक्र और ध्वजा की पूजा करने के बाद सिंहासन से अधर स्थित जिनेन्द्र वृषभदेव को देखा। जगत के गुरु, स्वामी ऋषभदेव को देखकर पूजा करनेवालों में श्रेष्ठ भरत ने उनकी प्रदक्षिणा दी और फिर उत्कृष्ट सामग्री से उनकी पूजा की। पूजा के बाद घुटने टेककर नमस्कार किया और भावमयी स्तुति की।

हे भगवान! आपके १०८ नामों का हृदय से स्मरण कर आपकी स्तुति करता हूँ। हे प्रभो! ज्ञान की अपेक्षा से देखा जाये तो आप समस्त संसार में व्याप्त हैं अथवा आपकी आत्मा की एक समय की केवलज्ञानरूप पर्याय में संसार के-जगत के समस्त पदार्थ प्रतिबिंबित हैं; इसलिये आपको नमस्कार हो। आपका ज्ञान और दर्शन क्षायिक है, इसलिये उन दोनों से एक साथ ही आपका उपयोग रहता है। आपमें अनंत सुख है और अनंत बल है। इसप्रकार आप अनेक गुणों के खजाने हैं। हे ईश, अल्पबुद्धि को धारण करनेवाला मैं उन सबकी लेशमात्र भी स्तुति करने के लिये समर्थ नहीं हूँ। इसलिये यह चाहता हूँ कि आपमें मेरी बड़ी भारी भक्ति रहा करे। इसप्रकार स्तुति कर चुकने पर जिसे देवों के समूह आश्चर्य सहित नेत्रों से देख रहे थे, ऐसे महाराज भरत श्री मंडप में प्रवेश कर वहाँ अपनी योग्य सभा में बैठे। तदनंतर भगवान से प्रबोध प्राप्त करने की इच्छा करनेवाला वह सभा रूपी सरोवर जब सब लोग तत्त्वों का स्वरूप जानने की इच्छा से हाथ जोड़कर चुपचाप बैठ गए, तब भगवान ऋषभदेव से तत्त्वों का स्वरूप जानने की जिज्ञासा करनेवाले महाराज भरत ने विनय से मस्तक झुकाकार प्रीतिपूर्वक ऐसी प्रार्थना की। हे भगवन, तत्त्वों का विस्तार कैसा है ? मार्ग कैसा है ? और उसका फल भी कैसा है ? हे तत्त्वों को जाननेवालों में श्रेष्ठ, मैं आपसे यह सब सुनना चाहता हूँ। इसप्रकार भरत का प्रश्न समाप्त होने पर प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने अतिशय गंभीर वाणी के द्वारा तत्त्वों का विस्तार के साथ विवेचन किया। उससमय भगवान के न तो तालु ओठ आदि स्थान ही हिलते थे और न उनके मुख की कांति ही बदलती थी। फिर भी बिना इच्छा दिव्यध्वनि निकल रही थी, यह एक अद्‌भुत बात थी।

भगवान कहने लगे कि हे आयुष्यमन्! भेद-प्रभेदों सहित जीव, पुद्‌गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों को तू सुन। जीव आदि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ही तत्त्व कहलाता है। यह तत्त्व ही सम्यग्ज्ञान का कारण और यही जीवों की मुक्ति का अंग है। यह तत्त्व सामान्य रीति से एक प्रकार का है, जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है तथा जीवों के संसारी जीव, मुक्त जीव, ऐसा दो भेद तथा एक अजीव इसप्रकार तीन भेदवाला भी कहा जाता है। संसारी जीव दो

प्रकार के माने गये हैं। एक भव्य और दूसरा अभव्य; इसलिये मुक्त जीव, भव्य जीव, अभव्य जीव और अजीव इसप्रकार वह तत्त्व चार प्रकार का भी माना गया है। अथवा मुक्त और संसारी जीव एवं मूर्त और अमूर्त अजीव इसप्रकार भी तत्त्व के चार भेद निश्चित किये गये हैं। तत्त्व की पाँच अस्तिकाय की दृष्टि से पाँच भेद भी माने गये हैं और उन्हीं पाँच अस्तिकायों में काल के मिला देने से तत्त्व के छह भेद भी हो जाते हैं। इसप्रकार विस्तारपूर्वक जानने की इच्छा करनेवालों के लिये तत्त्वों का विस्तार अनंत भदेवाला हो सकता है। जिसमें चेतना अर्थात् जानने-देखने की शक्ति पाई जावे, उसे जीव कहते हैं। वह अनादि निधन है अर्थात् द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा न तो वह कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट ही होगा। इसके सिवाय वह ज्ञाता है-ज्ञानोपयोग सहित है, द्रष्टा है—दर्शनोपयोग से युक्त है, भोक्ता है, और शरीर के प्रमाण के बराबर है। वह अनंत गुणवान है और कर्म विमुक्त होने पर ऊर्ध्वगमन करना उसका स्वभाव है और दीपक के प्रकाश की तरह संसार अवस्था में संकोच तथा विस्तार सब परिणमन करनेवाला है। गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि द्वारा वह जीवतत्त्व अन्वेषण करने योग्य है। सिद्धांतशास्त्र रूपी नेत्र को धारण करनेवाले भव्य जीवों को सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन, काल, भाव अंतर अल्पबहुत्त्व इन आठ अनुयोगों के द्वारा जीवतत्त्व का अंवेषण करना चाहिये। इनके सिवाय विद्वानों को प्रमाण, नय और निक्षेपों के द्वारा भी जीवतत्त्व का निश्चय करना चाहिये। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव जीव के निजतत्त्व कहलाते हैं। इन गुणों से जिसका निश्चय किया जावे उसे जीव जानना चाहिये। क्रमशः

नोट - (आगामी अंक में) तत्त्वज्ञान का अति सुंदर वर्णन जो भगवान श्री ऋषभदेव की दिव्यध्वनि से प्रकट हुआ है और महापुराण शास्त्र में आया है—लिपिबद्ध हुआ है, सो जानने के लिये आगामी अंक अवश्य पढ़िये।

निश्चय और व्यवहारनयों की मर्यादा

विद्वद्रत्न श्री रामजी माणिकचंद दोशी एडवोकेट

[गतांक नं० २४३ से आगे]

७९—पुद्गलकर्म भी अपने कार्य का कर्त्ता है, वह अस्ति और पर के (जीव के) कार्य का कर्त्ता नहीं है, वह नास्ति। इसप्रकार शेष पाँच भंग लगा लेना, अर्थात् जीव अपने परिणाम का कर्ता है और पुद्गल अपने परिणाम का कर्त्ता है। यह कथन समयसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार गाथा ३०९ की टीका में कहा है कि जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में (षट्खंडागम में) दर्शाये हैं, उस परिणामों से जीव और अजीव अनन्य जान अर्थात् जीव का कर्म अजीव नहीं है और अजीव का कर्म जीव नहीं है; इसलिये जीव, अजीव का अकर्त्ता ही है—ऐसा सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में जो आचार्यदेव शास्त्र में सिद्ध करना चाहते हैं, वह बात आगम में (कर्मकाण्ड गाथा १५ में) भी आई है, उसीप्रकार की सप्तभंगी पंचास्तिकाय तथा प्रवचनसार में भी आई है।

८०—पुद्गलकर्मों के बीच में भी परस्पर मात्र निमित्त नैमित्तिक संबंध गोम्मटसार कर्म० गाथा १७ में दिखाया है, मूल गाथा में **णामतियणिमित्तादो** इस बात को विशेष स्पष्ट करने के लिये गाथा ३३ की संस्कृत टीका पृष्ठ २७ बड़ी पुस्तक **तथा कार्मणपुद्गलानां योगकषायनिमित्तेन कर्मभावो ज्ञातव्यः** अर्थात् उन दोनों बीच में कर्त्ता कर्म संबंध नहीं है, मात्र निमित्तनैमित्तिक संबंध है।

८१—जिसे भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार गाथा १०५ में **जीवेण कर्मकृतं उपचारमात्रेण भण्यते** कहा है।

८२—उपचार का अर्थ आलापपद्धति में निम्न प्रकार है—**मुख्याभावो सति निमित्ते प्रयोजने उपचारः प्रवर्तते,** इसलिये यह उपचार निमित्त का ज्ञान कराने के लिये है तथा उसका प्रयोजन निमित्त का आश्रय हटाकर निजात्मा के सम्मुख होना है।

न्यायशास्त्र

८३—न्यायशास्त्र का कार्य **सर्वज्ञ को सिद्ध करने का है** और **वह ज्ञेय के आश्रय से सिद्ध किया है।** उस संबंध में स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३०२ में कहा है कि—

अर्थः—हे सर्वज्ञ के अभाववादियो! यदि सर्वज्ञ नहीं होवे तो अतीन्द्रिय पदार्थ को कौन जानता? इन्द्रियज्ञान तो स्थूल पदार्थ को ही जानता है, उसकी समस्त पर्याय को नहीं जानता।

भावार्थः—सर्वज्ञ का अभाव मीमांसक और नास्तिक कहते हैं, उनका निषेध किया है, यदि सर्वज्ञ न होते तो अतीन्द्रिय पदार्थों को कौन जाने ? क्योंकि धर्म और अधर्म का फल अतीन्द्रिय है; उसको सर्वज्ञ के बिना काई नहीं जानता, इसलिये धर्म-अधर्म के फल को चाहनेवाले पुरुष सर्वज्ञ को मानकर उसके वचन से धर्म के स्वरूप का निश्चयकर अंगीकार करो।

८४—पदार्थों का पर्याय धर्म सुनिश्चित न हो तो उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता, ऐसा कथन आप्तपरीक्षा ग्रंथ में दो जगह है। देहली वीर सेवा मंदिर से प्रकाशित आप्तपरीक्षा पृष्ठ २०६ कारिका ८८ और पृष्ठ २१४ कारिका ९६ वहाँ प्रत्येक प्रमेय के लिये सुनिश्चित शब्द लगाया है और यदि वे द्रव्य-गुण-पर्यायें सुनिश्चित न हो तो वह पदार्थ ही न कहा जायेगा, ऐसा वहाँ कहा है, वह सम्पूर्ण चर्चा पठनीय है।

८५—न्याय शास्त्रों का दूसरा विषय निमित्त तथा उपादान को सिद्ध करने का है। कारण कि कितने ही धर्मवाले निमित्त को नहीं मानते, तो कोई उपादान को नहीं मानते; इसलिये निमित्त नहीं माननेवालों को निमित्त सिद्ध किया है और कहा है कि दो पदार्थों के बीच अत्यंताभाव होने पर भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध हो सकता है।

उस स्थान पर निमित्त के बिना कोई कार्य नहीं होता, ऐसा भी उसके लिये सिद्ध किया जाता है, ऐसा भी कहा जाता है कि कुम्भकार न हो तो घट नहीं बनता किंतु उसका अर्थ ऐसा नहीं कि पर्याय उत्पन्न होने का काल हो, उस समय कुम्भकार न हो। किंतु प्रत्येक समय दोनों होते हैं। छहों द्रव्य प्रत्येक समय परिणमते हैं, उसका प्रत्येक परिणाम (पर्याय) रूप कार्य होता ही है और प्रत्येक कार्य के प्रत्येक समय में उपादान-निमित्त होते हैं, किसी की राह नहीं देखनी पड़ती।

८६—समयसार गाथा १०५ जयसेनाचार्य टीका० **मेवाडम्बरचन्द्रार्कपरिवेषादियोग्यकाले निमित्तभूते सति** में 'योग्यकाल' शब्द उपयोगी है।

८७—बौद्ध, सांख्यमत का निषेध आप्तमीमांसा ग्रंथ में किया गया है। उसीप्रकार समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश आदि ग्रंथ में भी न्याय द्वारा उसका निषेध कर वस्तु की सिद्धि की है।

८८—सर्व अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता ही है और वह इसप्रकार हो सकती है कि निमित्त, व्यवहार, भेद, भंग परसंयोगादि जो व्यवहारनय के विषय हैं, उसका आश्रय छोड़कर भूतार्थनय का आश्रय करे, वही उसका आशय है और वही आशय सप्तभंगी और अनेकांत का है।

८९—इसप्रकार अध्यात्म और आगम का नयविभाग द्वारा यथार्थ मेल न बिठाया जाय तो उसे निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों आश्रय करनेयोग्य है, ऐसा भ्रम हो जाय; इसलिये टोडरमलजी ने श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में निश्चय-व्यवहारनय के अर्थ करने के संबंध में स्पष्ट कथन किया है।

९०—शास्त्र का अर्थ करने के संबंध में प्रवचनसार गाथा २६८ टीका में निम्न प्रकार कहा है **यतः सकालस्यापि... निश्चयनयान्निश्चितसूत्रार्थपदत्वेन** (टीका मूल में से पूर्ण देख लेना)।

पंचाध्यायी

पंचाध्यायी शास्त्र के नयों की दूसरे शास्त्र कथित नयों के साथ अविरुद्धता

९१—**प्रश्न**—पंचाध्यायी की गाथा ६५९ से ६६१ में कहा है कि जो द्रव्यार्थिकनय के दो भेद मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है किंतु अध्यात्मशास्त्रों में द्रव्यार्थिक नय के दस भेद आये हैं, इस दोनों कथन का मेल किस प्रकार है ?

समाधान—निश्चयनय से तो निश्चयनय के भेद हो नहीं सकते किंतु व्यवहारनय से उस भेदों को किसी-किसी अध्यात्मशास्त्र में प्रयोजनवश कहा गया है।

अध्यात्म द्रव्यार्थिकनय के दस भेदों में से प्रथम भेद (१) **कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय** वह एक ही द्रव्यार्थिकनय है और वह निश्चयनय है। शेष नव प्रकार उस नय की अपेक्षा से 'व्यवहार' हैं परंतु वह सभी भिन्न-भिन्न रीति से उसी द्रव्य का वर्णन करते हैं किंतु पर्याय का वह वर्णन नहीं है, इतना सिद्ध करने के लिये उसे द्रव्यार्थिकनय का भेद ही किया है। इसलिये यह कथन समयसार की गाथा ११ की टीका में **शुद्धनयः एक एव भूतार्थः** आया है, उसके अनुसार ही है।

(२) अध्यात्मशास्त्रों में कुछ आचार्यों ने निश्चयनय के दो भेद कहे हैं (देखो श्री जैन सिद्धांत दर्पण पृष्ठ ३४) व्यवहारनय के छः भेद कहे हैं (पृष्ठ ३५) उन भेदों से अशुद्ध निश्चयनय का स्वरूप भिन्न है, इतना दिखाने के लिये उसे 'अशुद्ध निश्चयनय' कहा है। किंतु वह तत्त्वतः (निश्चयनय से तो) व्यवहार ही है। देखो, समयसार गाथा १०२ श्री जयसेनाचार्य टीका... **अशुद्ध निश्चयनयोऽपि शुद्धनिश्चयनय अपेक्षयां व्यवहार एव।**

[आलाप पद्धति में पृष्ठ १३ से १३९ (पंडित हजारीमलजी संपादित) में निश्चयनय के ऊपर कहे हुए दो भेद लिखे हैं तथा द्रव्यार्थिकनय के दश भेद पृष्ठ ५५ में दिये हैं।]

९२—उसके ऊपर से ऐसा समझना कि—

(१) पंचाध्यायी गाथा ६५९-६०-६१ में 'निश्चय का भेद जिसके मत में है, वह निश्चय

में मिथ्यादृष्टि होने से नियम से सर्वज्ञ की आज्ञा से बाह्य है' ऐसा कहा है, उसका आशय ऐसा समझना कि उन भेदों को कोई वास्तव में 'निश्चयनय' का भेद समझे तो वह मिथ्यादृष्टि है [ऐसा कहने का भाव है।]

(२) पंचाध्यायी में जो 'नयाभास' कहा है, वह श्रद्धान की मुख्यता से कहा है। यदि वह 'नयाभास' शिष्यों के ध्यान में आ जाये तो उन नयाभासों की ओर का झुकाव छोड़कर निज शुद्धात्मा की ओर झुकाव करे। ज्ञान की मुख्यता से कहा जाये, तब वे सभी असद्भूत व्यवहारनय से है, ऐसा ज्ञान कराया है।

दो द्रव्यों का कुछ भी संबंध सर्वथा न हो तो जीव अनादि से अज्ञानी न होय। तथा सात तत्त्व भी सिद्ध नहीं होंगे किंतु वह संबंध 'असद्भूत' है, ऐसा ज्ञान कराया है (आश्रय कराया है, ऐसा नहीं है)।

'असद्भूत' का अर्थ मिथ्या, अयथार्थ, असत्य भी होता है।

देखो परमात्मप्रकाश पृष्ठ १४ गाथा ७; पृष्ठ २४ गाथा १४; पृष्ठ ७२ गाथा ६५ अर्थात् इन नयों के ज्ञान कराने का हेतु भी उसका आश्रय छुड़ाने के लिये है।

(३) सर्व व्यवहार का प्रयोजन परमार्थ समझाने का है किंतु आश्रय कराने के लिये नहीं है। वह 'म्लेछ भाषा के' स्थान में होने से **व्यवहारनयो न अनुसर्तव्यः** समयसार गाथा ८ संस्कृत टीका।

(४) इसप्रकार सर्व आगम व अध्यात्मशास्त्रों के साथ श्रद्धा की मुख्यता से पंचाध्यायी के नयों का सुमेल है, विरोध नहीं है। ज्ञान कराने की मुख्यता से कथन होता है, तब आगम का नय उपयोगी होता है।

नयों का स्वरूप कहने के बाद निर्विकल्प होने का उपाय सूचित किया है, उसमें दोनों नयों से अतिक्रांत होना बताकर समयसार गाथा १४२-४३ का आधार दिया है। [पंचाध्यायी में विकल्पात्मक नय जिस प्रकार कहे हैं, उसीप्रकार समयसार गाथा १४०-१४१ कर्ताकर्म अधिकार में भी कहा है।] इसप्रकार भी पंचाध्यायी का समयसार के साथ मेल बैठता है।

९३—शुद्ध द्रव्यार्थिक (शुद्ध निश्चय) नय का विषय वही हमेशा आश्रय करनेयोग्य है और व्यवहारनय का विषय जाननेयोग्य है किंतु आश्रय करनेयोग्य नहीं है, ऐसा बताने के लिए शास्त्र में जो कि निश्चय और व्यवहारनय का विषय एक ही साथ होता है तो भी निश्चय के विषय को 'तावत' और व्यवहारनय के विषय को 'पश्चात्' शब्द प्रयुक्त किया है, उसके आधार निम्न प्रकार हैं।

(१) समयसार गाथा ७, पृष्ठ १८ टीका जयसेनाचार्य

(२) रायचंद जैन शास्त्रमाला—प्रवचनसार गाथा १९, पृष्ठ २७ 'तावन्निश्चयेन××× व्यवहारेणसंसारावस्थायां पश्चादिन्द्रियाधारेण।

(३) रायचंद जैन शास्त्रमाला—प्रवचनसार गाथा ३४, पृष्ठ ४५ 'निश्चयेन शुद्ध ××× जीव पश्चाद् व्यवहारेण नरनारकादिरूपोऽपि जीवोभण्यते।'

(४) रायचंद जैन शास्त्रमाला—प्रवचनसार गाथा ५५, पृष्ठ ७२ जीवस्तावत् शक्तिरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन अमूर्त××× पश्चाद् अनादि××× व्यवहारेण×××

(५) रायचंद जैन शास्त्रमाला—प्रवचनसार, अध्याय २, गाथा ७५, पृष्ठ २२९ 'तावत्××× पश्चात् व्यवहारेण।'

(६) रायचंद जैन शास्त्रमाला—प्रवचनसार, अध्याय २, गाथा ७०, पृष्ठ २२५ 'यथायमात्मा ××× पश्चात् अशुद्धनिश्चयनय....

(७) रायचंद जैन शास्त्रमाला—पंचास्तिकाय, गाथा ११३, पृष्ठ १७७ जयसेन आचार्य 'परमार्थेन स्वाधन'

(८) रायचंद जैन शास्त्रमाला—पंचास्तिकाय अनंतज्ञान ××× पश्चात् अज्ञानेन

(९) रायचंद जैन शास्त्रमाला—पंचास्तिकाय, गाथा १५४, पृष्ठ २२५ 'जीव निश्चयेन विशुद्ध ××× पश्चात् व्यवहारेण'

(१०) रायचंद जैन शास्त्रमाला—पंचास्तिकाय, गाथा ५१-५२, पृष्ठ १०० 'निश्चयनयेन अनन्य पश्चात् व्यवहारेण ×××'

(११) रायचंद जैन शास्त्रमाला—पंचास्तिकाय, गाथा २९, पृष्ठ ६४ 'निश्चयनयेन ××× तावत् इत्थंभूतोपि'

(१२) रायचंद जैन शास्त्रमाला—संसारावस्थायां कर्मावृतः ..... ××

(१३) रायचंद जैन शास्त्रमाला—वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा ४, पृष्ठ ११ 'तथाहि आत्मा.... ××××तावत् पश्चात् अनादिकर्मबन्धाधीन'

(१४) रायचंद जैन शास्त्रमाला—वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा ५, पृष्ठ ०३ 'आत्माहि निश्चयनयेन ××केवल ज्ञानरूपा तावत् सच व्य०

(१५) रायचंद जैन शास्त्रमाला—वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा १३ की सूचनिका शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावा अपि जीवाः पश्चात् अशुद्धनयेन चतुर्दशमार्गणा××

क्या व्यवहार रत्नत्रय सच्चा मोक्षमार्ग है ?

श्री पंडित गेंदालाल शास्त्री

[गतांक २४३ से आगे]

अनादि अनंत यह सर्वज्ञ का वीतराग शासन उसको वैसा ही (वीतरागरूप ही) रहने देना सच्चा अनेकांत है और कथंचित् शब्द का बहाना बनाकर पहले से रागोन्मुख जीवों को 'कथंचित् शुभरागरूप धर्म से मोक्ष होता है और कथंचित् शुद्ध वीतरागरूप धर्म से मोक्ष होता है' ऐसे मिथ्यावाद में फँसा देना तो कविवर भूधरदासजी की उक्ति को चरितार्थ करना ही है। 'अंध असूझन की अँखियन में झोंकत हैं रज राम दुहाई'।

'इस पंचम काल में तो केवल व्यवहाररत्नत्रय का ही पालन हो सकता है, निश्चयरत्नत्रय का अंश भी कोई प्रकट नहीं कर सकता, दसवें गुणस्थान तक नियम से (बन्ध साधक) व्यवहाररत्नत्रय ही होता है।'

इस प्रकार का कल्पित कथन करके जो अनादि काल से व्यवहार के पक्ष में मग्न हो रहे हैं, उन जीवों को पथभ्रष्ट करना है।

जैनाचार्य ने निश्चयरूप ज्ञानधारा, शुभाशुभरागरूप कर्मधारा इन दोनों धाराओं को साधक अवस्था में अविरोधी सहचर कही हैं। यहाँ ऐसा बहाना बनाकर भोले जीवों को बहकाया नहीं जा सकता कि दोनों धारायें व्यवहाररूप हैं और वे साधक अवस्था में दसवें गुणस्थान तक रह सकती हैं। क्योंकि आचार्यों ने स्पष्टरूप से रागरूप होने से व्यवहार को कर्मबन्धरूप कहा है और ज्ञानधारा जो केवल वीतरागरूप ही है, उससे ही संवर-निर्जरा कही है। आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी कहते हैं।

येनांशेनसुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंधने नास्ति।
येनांशेन रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति॥२१४॥

पुरुषार्थ सि०उ०।

अर्थात् साधक अवस्था में जितने अंशों से वास्तविक निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, उस अंश से कर्मबंध तीन काल में भी नहीं होता, क्योंकि निश्चयरत्नत्रय संवर-निर्जरारूप ही हैं। और राग चाहे मिथ्यादृष्टि का हो चाहे सम्यग्दृष्टि का, वह जिस अंश से विद्यमान है, उससे संवर-निर्जरा कभी न होकर केवल कर्मबन्ध ही होता है।

इस तरह श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने, जो लोग दसवें गुणस्थान तक केवल व्यवहाररत्नत्रय ही होता है, ऐसा कथन करते हैं, उनका खंडन डंके की चोट कर दिया है। श्री कुन्दकुन्द भगवान ने दर्शनपाहुड़ में लिखा है कि—

जीवादि सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णतं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवदि सम्मत्तं॥२०॥

अर्थात् रागरूप जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है और वीतराग आत्मा का श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व है। सो क्या ऐसे आत्मश्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व के बिना केवल राग रूप व्यवहाररत्नत्रय से संवर-निर्जरारूप धर्म की प्राप्ति हो जाती है? कभी नहीं हो सकती है। रागरूप रक्त से वीतरागी शुद्ध धर्म की प्राप्ति असंभव है। इतने कथन से यह सिद्ध हुआ कि जब तक पूर्ण दशा प्राप्त नहीं हो, तब तक चतुर्थ गुणस्थान से ही निश्चयरूप ज्ञानधारा और शुभाशुभरूप कर्मधारा दोनों साथ-साथ रहती हैं, और समयसार, प्रवचनसार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि आर्ष ग्रन्थों से यह भी सिद्ध हो गया कि व्यवहाररत्नत्रय रागांशरूप होने से बन्ध (संसार) का ही साधक है। सारांश आत्मा की शुद्धपरिणति स्वरूप निश्चय रत्नत्रय ही वीतरागी होने से मोक्षमार्ग है, और ज्ञानधारा स्वरूप है, लेकिन व्यवहाररत्नत्रय निश्चय से कर्मबन्ध साधक होने से कर्मधारा रूप ही है।

इसका खास प्रमाण देखिये। आत्मख्याति टीका कलश ११०।

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञान समुच्चयोऽपि विहितस्तावन्नकाचित्क्षतिः।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतोयत्कर्मबंधाय तत्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥११०॥

अर्थात् जब तक ज्ञान की कर्मविरति ठीक तरह पूर्णता को प्राप्त नहीं होती, तब तक शुभाशुभ कर्मरूप व्यवहार का और निश्चय वीतराग ज्ञानरूप निश्चय का सहचरपना आगमानुमोदित है, अर्थात् उन दोनों के साथ-साथ रहने में कोई क्षति (विरोध) नहीं है। यहाँ पर

यह बात अवश्य विचारणीय है कि भूमिकानुसार आत्मा में अवशपने जो शुभाशुभ कर्म प्रगट होते हैं, वे वास्तव में बंध (संसार) के ही कारण हैं, और जो स्वतः मोक्षस्वरूप है, ऐसा एक परम निश्चय स्वतः मुक्तरूप, ज्ञान मोक्ष का ही कारण है। आचार्य महाराज ने इसमें कितना स्पष्ट चमत्कारी कथन किया है कि जब तक कषायों का अभाव न हो, तब तक चौथे से दसवें गुणस्थान तक के जीवों के संवर-निर्जरारूप (निश्चयरत्नत्रय के अंशरूप) ज्ञानधारा और भूमिकानुसार शुभाशुभ व्यवहाररूप कर्मधारा दोनों अविरोध रूप से साथ-साथ रहती हैं। अतः 'नीचे दर्जे में निश्चयरत्नत्रय बिल्कुल नहीं रहता' यह कल्पना आकाशकुसुमवत् है। इन्हीं भावों को पंचाध्यायीकार कितने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं, जरा नमूना देखिये—

यत्पुनर्द्रव्य चारित्रं श्रुत ज्ञान बिनापि दृक।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत् कर्मबन्धकृत॥१५३७॥ अ०२

अर्थात् बिना निश्चय सम्यग्दर्शन के जो व्यवहार चारित्र है, वह वास्तव में सम्यक्चारित्र नहीं है और जो व्यवहार ज्ञान है, वह भी सम्यग्ज्ञान नहीं है। यदि व्यवहार से उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहा जावे तो वह सिर्प कर्मबन्ध ही करनेवाला है। और भी कहा है।

बंधोमोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः।
रागांशैबन्ध एव स्यान्नारागांशेः कदाचन्॥१५३९॥

अर्थात् रागांशों से केवल बन्ध ही होता है और वीतराग अंशों से केवल मोक्ष ही होता है।

रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात्॥१५२७॥

अर्थ—शुभोपयोग केवल रूढ़ि से ही चारित्र नाम से पुकारा जाता है। वास्तव में तो संवर-निर्जरारूप स्वार्थ क्रिया के करने में असमर्थ होने से वह सार्थक (सच्चा) चारित्र नहीं है और भी कहा है।

विरुद्ध कार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात्।
बन्धस्यैकान्ततः हेतो शुद्धाद्न्यत्र संभवात्॥१५२९॥

अर्थात् शुभोपयोगरूप व्यवहार चारित्र निःकषाायरूप शुद्धोपयोग से विरुद्ध कार्य करनेवाला होने से मात्र बन्ध साधक है, क्योंकि मोक्ष साधक तो एकमात्र शुद्धोपयोगरूप आत्मपरिणति ही है। सारांशरूप में कहते हैं कि—

नोह्यं प्राापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः।
अस्तिनाबन्धहेतुर्वा शुभोनाप्यशुभावहः ॥१५३०॥

इन आगम प्रमाणों से हस्तामलकवत् सिद्ध हो गया कि दसवें गुणस्थान तक केवल बिना निश्चय रत्नत्रयांश के अकेला व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष के कारण संवर-निर्जरा का कारण नहीं होता। शास्त्रों में वृहद्द्रव्यसंग्रह और परमात्मप्रकाश की टीका में श्री ब्रह्मदेवसूरि ने निश्चय सम्यग्दर्शन की वीतराग चारित्र का अविनाभावी लिखा है।

अब विचार किया जाता है कि आत्मा का त्रिकाली स्वभाव तो परम वीतराग ज्ञायकरूप ही है। अतः उसके गुणों की निरपेक्ष-निर्मल पर्यायें भी उसी के सदृश वीतराग रूप ही होंगी। चाहे सम्यग्दर्शन पर्याय हो, चाहे सम्यग्ज्ञान पर्याय हो और चाहे सम्यक्चारित्र पर्याय हो। ये शुद्ध पर्यायें आत्मा के अनुरूप ही होती हैं। जब आत्मा में सम्यग्दर्शन पर्याय की उत्पत्ति होती है, तब जितने ज्ञान का विकास है, वह भी सम्यक् कहलाता है और इसी तरह चारित्रांश भी सम्यक्व्यपदेश वाला हो जाता है। सम्यग्दर्शन पर्याय विपरीताभिनिवेश से, सम्यग्ज्ञानपर्याय परोन्मुख ज्ञप्ति से और सम्यक्चारित्र रागादि कषायांशों से विकृत हो रही हैं। जितने अंशों में विपरीततायें अलग होती हैं, उतने अंशों में शुद्धपर्याय प्रगट हो जाती है।

अतः जब अनंत संसार का कारण मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी कषाय का इस आत्मा के अभाव होता है, तब अनंत संसार भी छिद जाता है (परिमित रह जाता है)। उस समय आत्मा को अतीन्द्रिय सुख का भी आंशिक स्वसंवेदन होता है, जो स्वात्मानुभूति का अविनाभावी है। व्यवहार से आवरणरूप कर्मों के उदय से शुद्ध पर्यायें व्यक्त नहीं होतीं, ऐसा कहा जाता है। आगम में भाव मिथ्यात्व को निश्चय मिथ्यात्व भी कहते हैं, सो जब निश्चय मिथ्यात्व का अभाव हो जाये, तब फिर उसके अभाव से निश्चय सम्यग्दर्शन भी चतुर्थ गुणस्थान में ही प्रकट हो जाना चाहिए। फिर यह कहना कि निश्चय सम्यग्दर्शन ७ वीं या दसवें गुणस्थान से ऊपर ही होता है, कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

व्यवहार सम्यग्दर्शन जो कि पराश्रित है और रागरूप है, वह अनंत संसार का नाश कभी नहीं कर सकता, जो स्वयं बंध साधक है, वह निश्चित संसार का ही साधक है, नाशक नहीं। जब स्वात्मानुभूतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब उसके साथ में होनेवाले अनंतानुबंधी के अभाव से होनेवाले अनंत राग-द्वेष भी इस जीव के नष्ट हो जाते हैं। अतः

अनंतानुबंधी जो चारित्रमोहनीय की प्रकृति है, उसके अभाव से उतने अंशों में अनंत संसार की नाशक वीतरागता भी अवश्य प्रगट हो जाती है। यदि पंचम, षष्ट आदि गुणस्थानों में केवल व्यवहाररत्नत्रय ही हो तो फिर इस जीव के ज्ञानधारा और शुभाशुभ कर्मधारा जो निचली भूमिकाओं में साथ-साथ बतलाई हैं, वह सब कथन घटित नहीं होता और न श्री अमृतचन्द्र स्वामी का यह कथन ही घटित होता है कि जिस अंश से राग है, वह बंध साधक ही है और जिस अंश से निश्चय रत्नत्रय है, उससे कभी बंध नहीं होता, उससे तो संवर-निर्जरा ही होती है। यदि दसवें गुणस्थान तक केवल व्यवहार ही हो और निश्चयांश बिल्कुल न हो तो चतुर्थ गुणस्थान से संवर-निर्जरा का प्रारम्भ और सातवें से ऊपर उपशम-क्षपकश्रेणी आरोहण यह केवल व्यवहाररत्नत्रय से कभी नहीं हो सकता। भावलिंगीपना भी निश्चयरूप भावभासन बिना केवल व्यवहार से कभी नहीं होता।

निश्चय सम्यग्दर्शन पर्याय का लक्ष्य (आश्रय) जो कार्यरूप सिद्ध पर्याय का जनक है, ऐसा कारणपरमात्मा ही है। इसीलिए शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि को द्रव्यदृष्टि कहा है और पर्यायदृष्टि को मूढ़ मिथ्यादृष्टि, व्यवहारदृष्टि कहा है। पंडित दौलतरामजी सा० ने भी लिखा है।

'**परद्रव्यनितैं भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है**' और '**दर्शनमात्मविनिश्चितिः**' ऐसा श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने भी निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण लिखा है। **आत्माश्रितो निश्चयः** इसके अनुसार ही पुरुषार्थ सिद्धयुपाय और द्रव्यसंग्रह में—

जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं रूपमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदिजम्मि॥

अर्थात् जीवादि तत्त्वों का दुरभिनिवेशरहित भावभासनरूप श्रद्धान, सो सम्यग्दर्शन है और वह आत्मा की ही निर्मल पर्याय है। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो रागरूप विकारी पर्याय है, वह आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है, तब उस विकारी पर्याय से निर्विकारी मोक्षपर्याय प्रगट कैसे हो सकती है? जो सच्चा चारित्र है, वह चाहे पंचम-षष्ठ गुणस्थान का हो अथवा सातवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का हो या सिद्धों का हो, वह तो आत्मा की शुद्धपरिणतिरूप ही है और उसी से अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार संवर-निर्जरा होते हैं, रागरूप व्यवहाररत्नत्रय जो शुद्धपरिणति से विपरीत है, वह उपचार से ही रत्नत्रय है।

इतने कथन से यह सिद्ध हुआ कि निजशुद्धात्मा के आलंबन के बल से चतुर्थ गुणस्थान में अनंतानुबंधी का अभाव, पाँचवें में अप्रत्याख्यान का अभाव और षष्ठम में तीन चौकड़ियों का

अभाव तथा बारहवें आदि में सर्व कषायों के अभावपूर्वक जितना और जो चारित्र प्रगट होता है, वह और उतना तो स्वाश्रय-वीतरागरूप (निश्चयरूप) ही है, रागरूप व्यवहार नहीं है।

इसलिए अनंतानुबंधी-अप्रत्याख्यानावरणी के अभाव से होनेवाली जो आत्मशुद्धि प्रगट हुई है, वह भी वीतरागरूप ही है और वह सम्यक्चारित्र परिणति, सम्यग्ज्ञान परिणति निश्चय सम्यक्त्व की अविनाभावी ही है। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने वीतराग सम्यक्त्व को वीतराग चारित्र का अविनाभावी कहा है।

सामान्यतः चारित्रमोहनीय के पूर्ण अभाव से होनेवाले चारित्र को वीतराग और अनंतानुबंधी और मिथ्यात्व के अभाव से होनेवाले क्षायिक सम्यग्दर्शन को वीतराग-निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है। देखो अकलंक देवकृत तत्त्वार्थवार्तिक, अमितगति आचार्यदेव के अभिप्रायानुसार साम प्रकृतियों के क्षय से वीतराग (निश्चय) सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से हो सकता है। फिर भी सराग का बहाना लेकर निश्चय सम्यग्दर्शन का दसवें तक अभाव मानना आगम के विरुद्ध है।

समयसार में लिखा है—

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्य शक्तिः

अर्थात् सम्यग्दृष्टि के निश्चय से ज्ञान-वैराग्य शक्ति होती ही है। इससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि के अविनाभावरूप से ज्ञान और वैराग्य शक्ति स्वाभाविकरूप से प्रगट हुई है। अतः उसे वीतराग चारित्र का अविनाभावी नीचे के गुणस्थानों में कहना भी कोई अत्युक्ति नहीं है, यह बात दूसरी है कि उस समय उसके अस्थिरता के कारण पूर्ण वीतराग चारित्र प्रगट नहीं हुआ है।

जैसे सातवें गुणस्थान में अबुद्धिपूर्वक होनेवाले राग को गौण करके (नहीं गिनके) वहाँ के चारित्र को वीतरागचारित्र कह देते हैं। वास्तव में तो पूर्ण वीतरागचारित्र बारहवें आदि में ही होता है। इसी प्रकार चतुर्थ आदि गुणस्थानों में भी श्रद्धा की अपेक्षा इसकी द्रव्यदृष्टि में सर्वथा राग का अभाव है और इस सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में शुद्ध कार्यपरमात्मा सिद्ध भगवान के समान ही अपना कारणपरमात्मा भी है। दृष्टि की अपेक्षा तो सम्यग्दृष्टि भी पूर्ण वीतरागी ही है, क्योंकि राग के कर्तृत्व का उसकी दृष्टि में अभाव है। अब जरा समयसार की बारहवीं गाथा के नाम पर जो अपरम भाव में स्थित जीवों के निश्चय की प्राप्ति का सर्वथा अभाव किया जाता है, उस पर थोड़ा प्रकाश डाला जाता है।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभाव दरिसीहिं।
ववहार देसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥१२॥

इसकी टीका में अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं कि अन्तिम पाक से शुद्ध हुए स्वर्ण के समान जो उत्कृष्ट श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रवान् हुए हैं, उन्हें तो शुद्ध आत्मा को विषय करनेवाला शुद्धनय ही जानना चाहिए। क्योंकि निचली भूमिका को प्राप्त साधक को पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई है, उसे आंशिक शुद्धि के साथ व्यवहार की रागरूप अशुद्धि भी वर्त रही है, अतः उस रागरूप अशुद्धि के होने से किस भूमिका में किस प्रकार का राग होता है, यह दिखलाने के लिये और अपनी-अपनी भूमिका के विरुद्ध राग के निषेध के लिये उस समय का व्यवहार जानना भी प्रयोजनवान् है अर्थात् ऐसा भेद अवश्य होता ही है। यदि अपरम भाव में सर्वथा व्यवहार ही हो और निश्चय बिल्कुल नहीं हो तो आचार्यदेव ने यहाँ जैसे सुवण पाषाण का दृष्टांत दिया, वैसे अन्ध पाषाण जिसमें सुवर्ण बिल्कुल नहीं होता, दृष्टांत दिया जाता। वास्तव में सुवर्ण पाषाण में जितना सुवर्ण है, उतना निश्चय है और जितना पाषाणांश है, उतना व्यवहार है। इससे निश्चय-व्यवहार दोनों साथ रहे। सुवर्ण पाषाण को ताव देते समय यह बात अवश्य ध्यान में रखी जाती है कि इसमें इतने ताव लगने पर इतना शुद्ध सुवर्णांश प्रगट हो गया है और शेष इतना पाषणांश रहा है।

यदि सुवर्ण पर बिल्कुल दृष्टि नहीं हो तो क्या केवल अंध पाषाण को भी कोई ताव द्वारा शुद्ध करता है? इसी तरह आत्मा का शुद्धस्वरूप पूर्ण सिद्ध के समान है, ऐसी दृष्टि हुए बिना दसवें - बारहवें गुणस्थान तक निश्चय निरपेक्ष केवल रागरूप व्यवहार के अंध पाषाण को ताव दिया जाता है क्या? ताव तब ही दिया जाता है, जब निश्चितरूप से ज्ञात हो जाये कि इस सुवर्ण पाषाण में से शुद्ध सुवर्ण की प्राप्ति हो सकती है। इसीप्रकार व्यवहार तभी सार्थक और प्रयोजनवान् कहला सकता है, जब प्रारम्भ में निश्चय सम्यग्दर्शन द्वारा यह पक्की श्रद्धा हो जावे कि मेरा आत्मा वास्तव में द्रव्यदृष्टि से सामान्य कारणपरमात्मा स्वरूप निरन्तर है, और उसी के आश्रय से ही शुद्धि की उत्पत्ति, वृद्धि, टिकना और पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगट होगी, तथा पाषाण स्थानीय यह व्यवहार का शुभ राग भी उसी कारणपरमात्मा के आश्रय से छिन्न-भिन्न होगा। यदि किसी को अपने निश्चय शुद्ध स्वरूप का तो पता नहीं हो और केवल व्यवहार क्रियाओं को ही अपनाता रहे तो उससे क्या मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है?

आचार्यों ने जगह-जगह यह उपदेश दिया है कि प्राक् पदवी में व्यवहार भूमिकानुसार

अवशता से आता जरूर है और उसके लिये 'हन्त' शब्द द्वारा खेद भी प्रगट किया है, लेकिन मुमुक्षु को '**मलेच्छ भाषा स्थानीयो व्यवहारो नानुसर्तव्यः**' यह कहकर निश्चय के साथ आनेवाले लुटेरे व्यवहार से सावधान रहने का भी उपदेश दिया है। '**व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः**' यह उपदेश क्या केवली के लिये दिया है ?

आचार्यों ने शास्त्रों में किस स्थान पर किस प्रकरण के अनुसार कैसा कथन किया है, उसके भाव को समझे बिना केवल शास्त्रों की पंक्तियाँ प्रमाण में उपस्थित करने से कार्यसिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे श्री विष्णुकुमार मुनिराज ने अपनी विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से श्री अकंपनाचार्यादि सात सौ मुनियों का उपसर्ग वात्सल्य अंग से आकर्षित होकर दूर किया। अब जरा सोचने की बात है—सम्यग्दर्शन और अष्ट अंग का पालन करनेवाला प्रशंसा या मोक्ष का पात्र है, जिसका कथन स्वामी समंतभद्र सदृश समर्थ आचार्य ने भी अपने रत्नकरण्ड में किया है या प्रायश्चित का पात्र है ? जो वात्सल्य अंग से प्रेरित होकर सात सौ मुनियों के उपसर्ग दूर करने के कारण श्री विष्णुकुमार मुनि को अंत में दीक्षा छेदने का दण्ड लेना पड़ा। क्या धर्म पालन का भी प्रायश्चित होता है ? इससे सिद्ध है कि यह रागरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप व्यवहाररत्नत्रय वास्तव में श्री विष्णुकुमार मुनिराज की तरह प्रायश्चित तथा बन्ध का ही कारण है। मोक्ष का नहीं। निश्चयरत्नत्रय आत्मा की शुद्ध परिणतिरूप है; अतः उससे कभी भी प्रायश्चित लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। निश्चयरत्नत्रय परिणति तो चौथे से सिद्ध तक निश्चितरूप से सहचर ही रहती है लेकिन व्यवहाररत्नत्रय तो आगे-आगे की भूमिकाओं में खिसकते जाते हैं। जो जिनेन्द्र पूजा, दान श्रावक के लिये धर्म के आसन पर बिठलाये गये हैं, वे ही आगे की छठी-सातवीं आदि भूमिकाओं में हास्य-पात्र और अधर्म कहलाने लगते हैं। —क्रमशः

श्रावण मास की रिमझिम फुहारें

जिसप्रकार श्रावण की मधुर वर्षा की फुहारें संतप्त पृथ्वी को शीतल करके नवीन अंकुर उगाती हैं... उसीप्रकार गुरुदेव की वाणी से बरसी हुई श्रावण मास की यह मधुर फुहारें श्रोताजनों के संतप्त हृदय में शान्तरस का सिंचन करके उसे तृप्ति और शीतलता प्रदान करती हैं और धार्मिक भावना के नवीन अंकुर उगाती हैं।

यह आत्मतत्त्व की गंभीर बात है। आत्मतत्त्व क्या वस्तु है और उसका क्या अर्थ है तथा धर्मात्मा का कार्य कैसा होता है—इन सबका विस्तृत विवेचन—विशेष स्पष्टीकरण इस कर्ता-कर्म अधिकार में आचार्यदेव ने किया है।

जिसे मिथ्यात्व का छेदन करके धर्म दृष्टि का विकास करना हो, उसे पर मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता—यह दृष्टि छोड़ना चाहिये तथा ज्ञानानन्दस्वभाव मैं हूँ—ऐसी दृष्टि करना चाहिये।

पहले पर का और राग का आश्रय मानकर दृष्टि वहाँ अटक गई थी, वह महान अधर्म था; अब स्वभाव की दृष्टि करके, अपूर्व पुरुषार्थ की जागृति द्वारा राग और पर का आश्रय छोड़ा और ज्ञान निजस्वभाव में परिणमित हुआ—सो ज्ञान का अपूर्व आचरण है; वह धर्मात्मा का अपूर्व आचरण है।

राजपाट आदि को छोड़कर बाह्य त्याग तो अनंत बार किया। आहार—जल भी अनंत बार छोड़ा, परंतु अंतर से मिथ्यात्व कैसे दूर हो, उसकी कला जीव नहीं सीखा। शुभराग करके ऐसा माना कि मैं पर का त्याग करनेवाला और मैं इस राग को ग्रहण करनेवाला हूँ।—वहाँ तो अपने स्वभाव धर्म का त्याग और मिथ्यात्व का ग्रहण होता है। भाई, तेरा चिदानंदस्वभाव राग का भी कर्ता नहीं है; तो फिर पर का ग्रहण-त्याग उसमें क्यों होगा?

जैसे महावीर परमात्मा यहाँ विराजमान थे, वैसे ही सर्वज्ञ परमात्मा सीमंधर भगवान वर्तमान में विदेहक्षेत्र में साक्षात् तीर्थंकररूप से विराजमान हैं। वहाँ दिव्यध्वनि खिर रही है। उसमें जो उपदेश आया, उसे झेलकर और स्वयं अनुभव करके कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यह रचना की है। वह चैतन्यस्वभाव की गहरी-गंभीर बात है, इसे समझे बिना अंत नहीं आ सकता। इसे समझे तो अंतर में 'अमृत' अर्थात् अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आये और जन्म-मरण दूर होकर अमृतपद अर्थात्

मोक्षपद की प्राप्ति हो। साधक धर्मात्मा की ज्ञानपरिणति के साथ जो राग वर्तता है, वह कहीं ज्ञान का कार्य नहीं है। राग का कर्तृत्व हमारा नहीं है, हम तो ज्ञान हैं—ऐसा धर्मात्मा का परिणमन है।

भरत चक्रवर्ती छह खंड के राज्य में रहने पर भी चिदानंदतत्त्व की प्रतीतिसहित वैरागी थे। अरे! हम राज्य के संचालक नहीं हैं, हम तो चैतन्य का अनुभव करके आनंद का भंडार खोलनेवाले हैं। अन्य भावों के कर्ता हम नहीं हैं और वह हमारा स्वरूप नहीं है। उसीप्रकार श्रेणिक राजा, (जो वर्तमान में नरक के संयोग में हैं) को तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता है, किंतु अंतरपरिणति में प्रतीति है कि यह नरक का संयोग, यह तीर्थंकरप्रकृति का संयोग या उसके कारणरूप परिणाम—वे सब मेरी चैतन्यपरिणति से भिन्न हैं। चैतन्य की परिणति ही मैं हूँ।—ऐसी परिणति के बिना ज्ञानदशा नहीं कही जाती।

ज्ञानपरिणति जिनके विकसित हुई है, वे धर्मात्मा रागादि के परिणामों को जानते हैं, किंतु उन परिणामों को ज्ञानभूमि में प्रविष्ट नहीं करते; उन्हें ज्ञानभूमि से पृथक् ही जानते हैं। मिथ्यात्व की भूमिकावाले तीव्र राग-द्वेष या कषाय तो धर्मात्मा के होते ही नहीं; नरकादि की हलकी आयु का बंध भी धर्म की भूमिका में नहीं होता। तदुपरांत यहाँ तो कहते हैं कि—धर्म की भूमिका में देवादि की जिस उच्च आयु का बंध होता है, उसका कर्ता धर्मी जीव नहीं है। शुभपरिणाम का भी कर्तृत्व ज्ञान में नहीं है।

अहो, एक ओर ज्ञानभाव और दूसरी ओर समस्त परभाव, दोनों की जाति ही भिन्न है; दोनों की धारा ही अलग है। सम्यक्त्वी को तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता है—ऐसा कहा जाता है, किंतु वास्तव में उस तीर्थंकरप्रकृति का या उसके कारणरूप शुभराग का कर्तृत्व सम्यक्त्वी की परिणति में नहीं है। सम्यक्त्वी का परिणमन तो ज्ञानमय ही है; ज्ञानमय परिणमन में विकार का या जड़ का कर्तृत्व कैसे होगा?

विकार तो मलिन है और ज्ञान पवित्र है; पवित्र ज्ञानभाव में मलिनता का कर्तृत्व कैसे होगा? ज्ञानपरिणति ही ज्ञाता की चाल है। मलिनता, वह ज्ञाता की चाल नहीं है। अरे, एक बार ऐसा भेदज्ञान तो करो! ज्ञान का स्वरूप क्या और विकार का स्वरूप क्या?—उन दोनों की भिन्न-भिन्न जाति को पहिचान कर जहाँ ज्ञानरूप परिणमित हुआ, वहाँ समस्त परभावों का कर्तृत्व छूट गया।—इसका नाम धर्म है।

प्रभु आत्मा का स्वाद तो विज्ञानघनरूप है; आनंदमय निजरस से भरपूर स्वाद ही आत्मा का

स्वाद है। कषाय का स्वाद आकुलता से परिपूर्ण है, वह स्वाद आत्मा का नहीं है। जहाँ चैतन्य में डुबकी लगाये, वहाँ निराकुल अचलित शांतरस का ऐसा स्वाद आता है—जो स्वाद बहिर्दृष्टि के जीव ने कभी नहीं चखा... जिसे चखने से अनंत संसार की थकान क्षणमात्र में उतर जाती है।

आत्मा.... अर्थात् आनंद से भरपूर सरोवर!

आत्मा.... अर्थात् चैतन्यप्रकाशी सूर्य!

आत्मा.... अर्थात् विज्ञानरस का भंडार!

आत्मा.... अर्थात् शांत चैतन्यरस का समुद्र!

चैतन्यतत्त्व गहरा है; गहरा अर्थात् शुभाशुभ वृत्तियों से पार; उस चैतन्यतत्त्व का स्पर्श किये बिना परभाव के कर्तृत्व से ही जीव संसार में भटकता है। संसार में भी वह कहीं शरीरादि के कार्य नहीं करता।

भाई, पर के कार्यों से तो तेरा संबंध नहीं है और शुभ-अशुभभाव भी वास्तव में तेरे साथ संबंध नहीं रखते,—तो तू उनका कर्ता क्यों होता है? ज्ञानानंदस्वभाव की ओर उन्मुख हो तो आनंदरस का स्फुरण हो?

मिश्री, शक्कर आदि में स्वाद होता है, परंतु क्या आत्मा में भी स्वाद होता है? तो कहते हैं कि—हाँ; वीतरागी शांतरस का अनाकुल स्वाद आत्मा में है; आत्मा शांत चैतन्यरस का पिण्ड है; उसका स्वाद अनुभव में आता है। चैतन्य का ऐसा निराकुल शांत स्वाद जगत के अन्य किसी पदार्थ में नहीं है।

शुभाशुभराग में आकुलता का कषायला स्वाद है; जो उसके कर्तृत्व में अटकता है, वह चैतन्य के आनंद प्रवाह को विदीर्ण करता है। बाह्य में कदाचित् शुभ के उदय से अनुकूल संयोग प्राप्त हों, किंतु उस ओर के हर्ष के वेदन में जो अटकता है, वह अपने विज्ञानघन की आनंद दशा को तोड़ता है। अनुकूल सामग्री में कहीं ऐसी शक्ति नहीं है कि चैतन्य के आनंद का स्वाद दे सके। परलक्ष से सुख की कल्पना करे तो अपने आनंद का घात करता है; तथा प्रतिकूल संयोगों में दुःख की कल्पना करके परिणमित हो, वह भी अपने स्वाधीन असंयोगी सुख को भूलता है।

अरे जीव! पर में सुख-दुःख की कल्पना व्यर्थ है; तेरा आत्मा स्वयमेव विज्ञानघन एक आनंदस्वभाव से परिपूर्ण है। तेरा स्वभाव कहीं हर्ष-शोक की उत्पत्ति का स्थान नहीं है। चैतन्यधाम में से तो आनंद की उत्पत्ति होती है और केवलज्ञान प्रगट होता है—ऐसा तेरा स्वक्षेत्र है। स्व

–सन्मुख आनंद परिणति में वर्तता हुआ ज्ञानी हर्ष–शोक का भोक्ता नहीं होता, वह तो निजानंद के स्वाद का ही सेवन करता है।

प्रभो! एक बार अपने आनंदस्वभाव की बात को रुचि में और ज्ञान में तो ले। निजस्वभाव की ओर उन्मुख होने से एकरूप आनंद का अनुभव हो—ऐसा स्वभाव है। अरे, अपने स्वाद की तुझे खबर नहीं है और परभाव के आकुलताजन्य स्वाद को तू अपना मानकर वेदन कर रहा है! उसमें तो तेरा आनंदरस लुट जाता है। स्वभाव की ओर देखे तो उसमें परम शांति का स्वाद भरा है।

देखो, यह चैतन्य की परम शांति की बात!—

वचनामृत वीतरागनां परम शांतरस मूल,
औषध जे भवरोगनां कायर ने प्रतिकूल।

अरे, वीतराग के वचन तो स्वभाव और परभाव का पृथक्त्व कराके, जीव को अंतर स्वभाव में ले जाते हैं... जिससे भवरोग का नाश हो—ऐसी स्वसन्मुखता वीतराग के वचन बतलाते हैं किंतु पुरुषार्थहीन कायर जीव, शुभराग में अटक रहे हैं।

त्रिलोकीनाथ परमात्मा तीर्थंकरदेव ऐसा आदेश देते हैं कि अरे आत्मा! पर की क्रिया में तू कहाँ अटका है? यह कार्य तेरा नहीं है। अज्ञानी भी पर की क्रिया नहीं कर सकता। तू तो ज्ञान है; तेरे ज्ञानभाव में परभाव का भी कर्तृत्व नहीं है। जिसप्रकार सूर्य के तेज में अंधकार नहीं है; उसीप्रकार ज्ञानसूर्य के तेज में परभाव नहीं है। राग से पृथक् होकर अपने ज्ञानस्वभाव में आ, तो तुझे अपने ज्ञान का स्वाद अनुभव में आयेगा।

हे जीव! आत्मभाव में तू अपने निर्मल परिणाम कर, और अज्ञानभाव में तू राग–द्वेष, हर्ष–शोक के परिणाम कर, परंतु बाह्य में किसी जीव को बचाने या मारने की क्रिया तेरे आत्मा से बाहर है। पर की क्रिया आत्मा में नहीं है। जिसे वीतराग का उपासक होना हो, दास होना हो, उसकी यह बात है।

समंतभद्रस्वामी 'स्वयंभूस्तोत्र' में कहते हैं कि—हे नाथ! हे सर्वज्ञ परमात्मा! आपके गुणगान करने के लिये तो मैं आपका वन्दीजन हूँ; मैं तो आपका चाकर–दास हूँ। आपकी सर्वज्ञता आदि गुणों की परमभक्ति के कारण मैं वन्दीजन की भाँति आपके गुणगान करता हूँ। देखो, यह आत्मगुणों का बहुमान!

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! संसार की बात तूने खूब सुनी, अब एकबार हमारी बात सुन! हम तुझे तेरे चैतन्य में भरे हुए आनंद के निधान बतलाते हैं, सो सुन! लक्ष्मी प्राप्त होने की बात कितनी

रुचिपूर्वक सुनता है!—तो यह तेरे अंतर में पड़ी हुई चैतन्य लक्ष्मी की बात भी उत्साह पूर्वक सुन!

आत्मा का स्वाद अचलित विद्यमान है। जिसप्रकार लैंडी पीपल में चरपरा स्वाद है, शक्कर में मीठा स्वाद है; उसीप्रकार चैतन्य में शांतरस-विज्ञानरस भरा है, जिसका स्वाद आनंदमय है।

आनंद का स्वाद शुभराग में भी नहीं है। अतीन्द्रिय आनंदरस का स्वाद निजस्वभाव के अवलोकन से आता है। आत्मा में एकरूप आनंदरस की धारा का प्रवाह बहता है—उसी का धर्मी 'भावक' है। धर्मात्मा जीव भावक होकर अपने निजानंद को ही अपना 'भाव्य' बनाता है, विकार को वह अपना भाव्य नहीं बनाता, उसे तो ज्ञेयरूप से भिन्न रखता है।

अज्ञानी जीव निजानंदरस की भावना को भूलकर, विकार का ही भावक होता है और हर्ष-शोकादि विकार को अपना भाव्य बनाता है। ऐसे विकारी भाव्य-भावक द्वारा अज्ञानी ने अनंत बार इस संसार में जन्म धारण किया... वह अनंत भव से संसार दुःख भोग रहा है, उससे छूटने की यह रीति है।

अरे आत्मा! तेरी वस्तु अंतर में आनंद स्वाद से भरपूर एकरूप है। शुभ या अशुभ यह दोनों भाव तेरे एकरूप स्वभाव से भिन्न प्रकार के हैं, विरुद्ध जाति के हैं, दुःख दाता हैं। आत्मा में आनंद है, विकार में आकुलता है। शुभ या अशुभ, उनसे बँधनेवाले पुण्य या पाप, उनके फलरूप हर्ष या शोक अथवा अनुकूलता या प्रतिकूलता—यह सब चिदानंद आत्मा से बाहर हैं; उन सबकी रुचि छोड़कर आनंदकंद आत्मा की रुचि करे, तभी धर्म और आनंद होता है।

वाह! आत्मा में उतरने के लिये कैसी सरस बात है! एकबार तो जगत से पृथक् होकर अंतर में आ! अंतर में उतरकर एकबार तो आत्मा का अपूर्व स्वाद चख! अभी तक तो तू परभाव के स्वाद में लुटता रहा, अब निजभाव का स्वाद चखकर अपूर्व निधान को प्राप्त कर!

जो परभाव में और संयोग में सुख मानता है, उससे कहते हैं कि—अरे, परभाव के भिखारी! अरे, संयोग के भिक्षुक! तेरा सुख उनमें कहीं नहीं है; सुख तो तेरे अंतर में भरा है, तू स्वयं ही निजानंद का सम्राट है; अनंत चैतन्यनिधान का स्वामी है... परंतु अपने भंडार को भूलकर तू भिखारी की भाँति दूसरों से अपने सुख की भिक्षा माँग रहा है... अब वह छोड़ और अकेले अंतर में उतरकर निजनिधि का उपभोग कर।

भाई, संयोग के लक्ष्य से अभी तक तूने मात्र दुःख ही भोगे हैं... संयोग कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हुए और न संयोगों को आत्मा ने भोगा है... आत्मा ने अज्ञानरूप से अपने विकार के

दु:ख का ही उपभोग किया है। ज्ञान होने से यह जीव विकार का वेदन छोड़कर स्वभाव के सुख का अनुभव करता है। हर्ष और शोक इन दोनों से पृथक् यह तीसरी वस्तु है।

अरे भाई, अभी तक तूने अपने आत्मा की ओर नहीं देखा; आत्मा की शुद्धता को तूने नहीं जाना; उसे तूने श्रद्धा में नहीं लिया और आत्मा की शुद्धता के स्वाद को तूने वेदन में नहीं लिया... तूने विकार का ही वेदन किया है। उस वेदन में तुझे कभी शांति नहीं मिली। एक बार उपयोग को अंतर में लेकर, विकार से पृथक् करके, वेदन को बदल दे तो तेरे अंतरवेदन में आनंदरस की धारा बरसने लगे।

अरे, तूने क्या किया और क्या भोगा? उसकी भी तुझे खबर नहीं है? तुझमें जो हो रहा है, उसकी भी खबर तुझे नहीं पड़ती?—इतना बड़ा बेखबर है? घर में मामा आये और चला जाये—उसकी खबर न पड़े तो लोग बेखबर कहकर उलहाना देते हैं; यहाँ संत-मुनि उलहाना देकर समझाते हैं कि अरे बेखबर जीव! तू अपने आनंदघन आत्मा को भूलकर विकार को भोग रहा है, पर का उपभोग तू नहीं करता; तथापि पर को मैं भोगता हूँ—ऐसा मान रहा है। जिसप्रकर मुँह में क्या खा रहा है, उसकी खबर स्वयं को न हो तो क्या कहा जायेगा? उसीप्रकार स्वयं जिसे भोग रहा है, उसकी खबर यदि स्वयं को न हो तो वह कैसा अज्ञान है! यहाँ तो विकार के भी वेदन से पार चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद का वेदन कैसे होता है, उसकी बात है। एकबार उसका वेदन कर तो अपूर्व शांतरस की धारा आत्मा में बरसने लगे।

* ऐसी है श्रावणमास की रिमझिम फुहारें *

टेपरील रेकोर्डिंग द्वारा प्रवचन प्रचार

चार साल से चल रहा है जिसमें योग्य, शांत, वैराग्य, विवेकवान ब्रह्मचारी प्रचारकजी श्री रमेशचंद्रजी द्वारा जैन शिक्षणवर्ग (कक्षा), प्रवचन, शंका-समाधान तथा संगीत भजन तथा पूज्य स्वामीजी के आध्यात्मिक प्रवचन मशीन द्वारा सुनाने तथा तीर्थयात्रा की रंगीन फिल्म का भी कार्यक्रम है, जिन्हें आवश्यकता हो वे संस्था द्वारा, पंचायत द्वारा सोनगढ़ पत्र व्यवहार करें, आमंत्रण आने पर क्रमश: भेजते हैं। यह प्रचार बंबई निवासी धर्मप्रेमी श्री नवनीतभाई सी. जवेरी द्वारा चल रहा है।

पता- टेपरील रेकोर्डिंग प्रचार विभाग
दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के भूतपूर्व प्रमुख माननीय भाई श्री रामजीभाई माणिकचंद दोशी का

सन्मान समारोह

आत्मज्ञ संत पूज्य श्री कानजी स्वामी के पावन अध्यात्म उपदेश से प्रभावित होकर, लौकिक वकील-एडवोकेट की प्रवृत्ति छोड़कर वीतरागी मार्ग के सच्चे और निर्भीक एडवोकेट के रूप में जिन्होंने उत्तम ख्याति प्राप्त की है। पूज्य गुरुदेव श्री ने जो आध्यात्मिक पुनीत गंगा का अमृतमय प्रवाह बहाया है, उन्हें अंतर में झेलने में जो सतत प्रयत्नशील हैं। आप श्री जिनेन्द्र कथित मार्ग के प्रति अडिग श्रद्धावान और रुचिवान हैं, आपकी सन्निष्ठ ज्ञानोपासना प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है, आपने अथक कार्यपरायणता, दीर्घदर्शिता और असाधारण सुलझन शक्ति द्वारा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोगनढ़ की नि:स्वार्थतया अनेक वर्षों तक अमूल्य सेवा की है। आपने अनेक शहरों के मुमुक्षु मंडलों को योग्य सलाह और सूचनाओं द्वारा यथार्थ मार्ग दर्शन दिया है, ऐसे श्री भाई श्री रामजीभाई माणिकचंद दोशी आगामी भाद्र सुदी ४ तारीख ३०-८-६५ सोमवार के शुभ दिन ८३ वें वर्ष में प्रवेश करते हैं, उस दिन पूज्य स्वामीजी के पावन सान्निध्य में उनका यथोचित सन्मान तथा नि:स्वार्थ सेवाओं के योग्य अंजलि समर्पण के लिये एक समारंभ का आयोजन करने में आया है।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

तथा

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की ओर से

(प्रमुख)

नवनीतलाल चुन्नीलाल जवेरी

सोमवार

तारीख १५-८-६५

सुवर्णपुरी समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुखशांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सबेरे परमात्मप्रकाश तथा दोपहर को समयसार कलश टीका चलते हैं।

धर्म-उत्सव—

आषाढ़ अष्टाह्निका पर्व हरसाल माफिक मंडल विधान उत्साह सहित सम्पन्न हुआ। भगवान महावीर शासन प्रभावना दिन श्रावण वद १ उत्साह सहित मनाया गया।

शिक्षण शिविर—

तारीख २-८-६५ से शुरु हो गया है। उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश से बड़ी संख्या में धर्म जिज्ञासु आये हैं, उनमें अनेक विद्वान वर्ग भी हैं।

त्यागीवर्ग—

ब्रह्मचारी पंडित श्री बंशीधरजी न्याय अलंकार इंदौर, ब्रह्मचारी श्री दुलीचंदजी इंदौर, ब्रह्मचारी हेमराजजी-भोपाल, ब्रह्मचारी दवाचंदजी उदयपुर, ब्रह्मचारी चेतनस्वरूपजी पालीताना, ब्रह्मचारी गुलाबचंदजी कुणनिवासी, ब्रह्मचारी राधाकृष्णजी कोटा (राज०), ब्रह्मचारी पंडित झमकलालजी कुरावड़, पंडित राजेन्द्रकुमारजी कलकत्ता। जो निजेच्छा से सत्संगति अर्थ पधारे हुए हैं।

भोपाल

तारीख १७-७-६५ अष्टाह्निका पर्व में मुमुक्षु मंडल की ओर से नंदीश्वर पूजन विधान का विशेष आयोजन किया गया था, जिसमें बाहर से पंडित श्री फूलचंदजी सिद्धांत शास्त्री तथा ब्रह्मचारी राजारामजी के पधारने से विशेष उल्लास रहा। प्रातः ०६.०० से ०८.०० पूजन विधान, ०८.०० से ०९.०० तक शास्त्र प्रवचन रात्रि को एक घंटा तत्त्वचर्चा तथा एक घंटा शास्त्र। विषय निश्चय-व्यवहार, कारण-कार्य आदि। सभी मुमुक्षु भाई और बहिन सामूहिकरूप से यथासमय भारी संख्या में भाग लेते थे।

सौभाग्यमल जैन

(मंत्री - श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल भोपाल)

गुना

तारीख १९-७-६५ फतेपुर गुजरात निवासी श्री पंडित बाबूभाई का आगम इस परमपावन अष्टाह्निका पर्व में दोनों जिनालयों में श्री सिद्धचक्र मंडल विधान श्री श्यामलालजी नेमीचंदजी एवं दिगम्बर जैन समाज की ओर से हुआ। उस सुअवसर पर श्री बाबूभाई के प्रवचन ८ दिन तक मोक्षमार्गप्रकाशक तथा समयसार कलश टीका पर हुये, समाज में काफी प्रभावना हुई। इस अवसर पर अशोकनगर, मुंगावली, पिपरई, चंदेरी, बीना, बारां, कोटा, खानपुर, कुंभराज, बीनागंज, इंदौर, उज्जैन, राघौगढ़, आदि के साधर्मी समाज एवं विद्वद्गण पधारे थे। सबने सोनगढ़ की सच्ची अनेकांतमय महिमा, पूज्य स्वामीजी द्वारा धर्म प्रभावना समझकर श्री बाबूभाई का भारी उत्साह से सन्मानपूर्वक आभार माना। —केवलचंद पांड्या

दसलक्षण पर्यूषण पर्व—

भाद्र सुदी ५ तारीख ३१-८-६५ से प्रारंभ होकर सुदी १५ तारीख १०-९-६५ पूर्ण होगा, वदी १ क्षमावाणी पर्व मनाया जायेगा।

प्राप्ति स्वीकारता

२१) इंदौर से श्री सेठ नाथूलालजी गंगवाल के स्वर्गवास निमित्त उनके सुपुत्र श्री भूरालालजी (ह० पंडित श्री नाथूलालजी शास्त्री इंदौर) द्वारा आत्मधर्म प्रचारार्थ भेंट स्वरूप प्राप्त हुए, एतदर्थ धन्यवाद।

१०) जबलपुर से सवाई सि० श्री छिकौड़ीलालजी के स्वर्गवास के स्मरणार्थ आत्मधर्म मासिक पत्र के प्रचारार्थ भेंट स्वरूप प्राप्त हुए, एतदर्थ धन्यवाद। —प्रकाशक

विज्ञप्ति

दस लक्षण पर्यूषण पर्व भाद्रपद मास के लिये प्रवचनकार विद्वान की आवश्यकता हो तो अपने यहाँ की संस्था द्वारा पत्र लिखें:—

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल प्रचार समिति
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

श्री पंचास्तिकाय शास्त्र छप गया है, बाइंडिग होकर तैयार होने में कुछ देर होगी, तैयार होते ही सूचित करेंगे।

विज्ञप्ति

सोनगढ़ श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल की कार्यवाही कमेटी की मीटिंग

संवत् २०२२ भाद्र सुदी १ शुक्रवार, तारीख २७-८-६५ के दिन होगी, हरेक सभ्यों से उपस्थित रहने की प्रार्थना है।

श्री दिगम्बर जैन महामंडल की सामान्य सभा

वार्षिक सामान्य सभा सोनगढ़ में संवत् २०२२ भाद्र सुदी २ तारीख २८ - ८-६५ को होगी उस समय हरेक गाँव शहर के मंडल के प्रतिनिधियों तथा स्थानीय बंधुओं को उपस्थित रहने की प्रार्थना है।

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

समयसार कलश टीका के ग्राहकों से निवेदन

यह पुस्तकें सब बिक चुकी हैं। अत: फिर छपाने के लिए यह जानना जरूरी है कि आप कितने ग्रंथ लेंगे। करीब ८०० ग्रंथों के ग्राहक होने पर पुन: उसके छपवाने की व्यवस्था की जा सकेगी, अत: पत्र द्वारा सूचित कीजियेगा।

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)।

नया प्रकाशन

छहढाला सचित्र (सुबोध टीका)

पूर्वाचार्य श्री गुरुओं ने जितने भी उपदेश दिये हैं, उन सभी उपदेशों के साररूप यह पाठ्यपुस्तक है। साथ ही उन उपदेशों के कथित भाव के प्रदर्शक चित्र भी दिये हैं, जिनकी संख्या १४१ है।

बाल, वृद्ध किसी को भी आत्महित में मन लगाकर प्रसन्नता प्राप्त करना हो तो इसमें समझने की पद्धति बहुत सरल है। स्व-पर में तत्त्वज्ञान का प्रचार हो, और इसके द्वारा बच्चों को भी उत्तम संस्कार प्राप्त हो, प्रसन्नता से पढ़े ही पढ़े, इसलिए शीघ्र मंगाकर प्रचार कीजिये। पृष्ठ संख्या २०८, मूल्य १.००, पोस्टेज-२० पैसा।

मिलने का पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विज्ञप्ति

धार्मिक उत्सव अष्टाह्निका तथा दस लक्षण पर्यूषण पर्व भाद्रपद मास के लिये प्रवचनकार विद्वान की आवश्यकता हो तो अपने यहाँ की संस्था द्वारा पत्र लिखें:—

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल प्रचार कमेटी
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

श्री प्रवचनसार शास्त्र (दूसरी आवृत्ति)

यह शास्त्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पवित्र अध्यात्मसाररूप महान ज्ञान निधि है। जिसमें सातिशय निर्मल ज्ञान के धारक महामहर्षि श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने सम्यग्ज्ञान-दर्शन (ज्ञेय) और चारित्र अधिकार में स्वानुभव गर्भित युक्ति के बल द्वारा सुनिश्चित द्रव्य-गुण-पर्यायों का विज्ञान, सर्वज्ञ स्वभाव की यथार्थता, स्व-पर ज्ञेयों की स्वतंत्रता, विभाव, (अशुद्धभाव) की विपरीतता बताकर अंत में ४७ नयों का वर्णन भी संस्कृत टीका द्वारा ऐसे सुंदर ढंग से किया है कि सर्वज्ञ स्वभाव की महिमा सहित विनय से स्वाध्यायकर्ता अपने को धन्य माने बिना नहीं रह सकते।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने समस्त जिनागम के साररूप रहस्य को खोलकर धर्म जिज्ञासुओं के प्रति परमोपकार किया है। उसी टीका का प्रामाणिक अनुवाद, बड़े टाइप में उत्तम छपाई, बढ़िया कागज, रेगजिन कपड़ेवाली बढ़िया जिल्द, प्रत्येक गाथा लाल स्याही में छपी है। सभी जिज्ञासु यथार्थ लाभ लें, ऐसी भावनावश मूल्य लागत से भी बहुत कम, मात्र ४) रुपया रखा गया है। पृष्ठ ४७०, पोस्टेज २.१० रुपये, (किसी को कमीशन नहीं है)

(यह शास्त्र बंबई, दिल्ली, सहारनपुर, बड़ौत, उदयपुर, जयपुर, सागर, भोपाल, उज्जैन, इन्दौर, विदिशा, गुना, अशोकनगर, ललितपुर, जबलपुर, खंडवा, सनावद, दाहोद, अहमदाबाद, आदि में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा भी प्राप्त हो सकेगा।)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
प्रवचनसार	प्रेस में	जैन बाल पोथी	०-२५
नियमसार	५-५०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
पंचास्तिकाय	४-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
आत्मप्रसिद्धि	४-०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।